

८९. विनयाख्यानम्

सर्व-देवेन्द्रनागेन्द्र-नरेन्द्राद्यैः समर्चितम्। नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं विनयाख्यानकं शुभम् ॥१॥
 वत्सदेशे सुविख्याते कौशाम्बीपत्तने शुभे। राजाभूद्धनसेनाख्यो विष्णुभक्तो विमुग्धधीः ॥२॥
 धनश्रीः श्रीरिवात्यन्तसुन्दरा तस्य कामिनी। श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोजसद्भृङ्गी श्राविकोत्तमा ॥३॥
 सुप्रतिष्ठाभिधस्तत्र पुरे भागवतस्तथा। तद्राजाग्रासने भुङ्क्ते भोजनं कुतपोव्रतः ॥४॥
 स जलस्तंभिनीविद्या-सामर्थ्येन प्रपंचतः। यमुनाख्यामहानद्यामध्ये जापं करोति च ॥५॥
 तत्प्रभावं समालोक्य सर्वे मूढजनास्तदा। संप्राप्ता विस्मयं युक्तं मूढा मूढक्रियारतः ॥६॥
 अथ श्रीविजयार्थस्य दक्षिणश्रेणिसंस्थिते। रथनूपुरचक्रादिबालाख्ये पत्तनेऽभवत् ॥७॥
 राजा विद्युत्प्रभः ख्यातः श्रावकव्रतमण्डितः। विद्युद्वेगा महाराज्ञी विष्णुभक्ता बभूव च ॥८॥
 एकदा तौ विनोदेन कौशाम्बीमागतौ पुरीम्। माघमासे जलस्नानं नद्यां जापं जलोपरि ॥९॥
 कुर्वन्तं सुप्रतिष्ठन्तं मिथ्यात्वविषदूषितम्। विद्युद्वेगा विलोक्योच्चैः-स्तत्प्रशंसां चकार सा ॥१०॥

८९. विनयी पुरुष की कथा

इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों द्वारा पूजे जाने वाले जिन भगवान् को नमस्कार कर विनयधर्म के पालने वाले मनुष्य की पवित्र कथा लिखी जाती है ॥१॥

वत्सदेश में सुप्रसिद्ध कौशाम्बी के राजा धनसेन वैष्णव धर्म के मानने वाले थे। उनकी रानी धनश्री, जो बहुत सुन्दरी और विदुषी थी, जिनधर्म पालती थी। उसने श्रावकों के व्रत ले रखे थे। यहाँ सुप्रतिष्ठ नाम का एक वैष्णव साधु रहता था। राजा इसका बड़ा आदर-सत्कार कराते थे और यही कारण था कि राजा इसे स्वयं ऊँचे आसन पर बैठाकर भोजन कराते थे। इसके पास एक जलस्तंभिनी नाम की विद्या थी। उससे यह बीच यमुना में खड़ा रहकर ईश्वराराधना किया करता था, पर डूबता न था। इसके ऐसे प्रभाव को देखकर मूढ़ लोग बड़े चकित होते थे। सो ठीक ही है मूर्खों को ऐसी मूर्खता की क्रियाएँ पसन्द हुआ ही करती है ॥२-६॥

विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी में बसे हुए रथनूपुर के राजा विद्युत्प्रभ जैनी थे, श्रावकों के व्रतों के पालने वाले थे और उनकी रानी विद्युद्वेगा वैष्णव धर्म की मानने वाली थी। सो एक दिन ये राजा-रानी प्रकृति की सुन्दरता देखते और अपने मन को बहलाते कौशाम्बी की ओर नदी-किनारे आ गए। वहाँ पहुँच कर देखा कि एक साधु यमुना में खड़ा रहकर तपस्या कर रहा है। विद्युत्प्रभ ने सुप्रतिष्ठ को जल में खड़ा देख उसने जान लिया कि यह मिथ्यादृष्टि है। पर उनकी रानी विद्युद्वेगा ने उस साधु की बहुत प्रशंसा की। विद्युत्प्रभ ने रानी से कहा यह कोई मिथ्यादृष्टि है जो लोगों को ठग रहा है। रानी ने कहा नहीं है एक बड़ा साधु है तब विद्युत्प्रभ ने रानी से कहा-अच्छी बात है, प्रिये, आओ तो मैं तुम्हें जरा इसकी मूर्खता बतलाता हूँ। इसके बाद ये दोनों चाण्डाल का

ततो विद्युत्प्रभः प्राह सुधीर्विद्याधराधिपः। आगच्छतो प्रिये चास्य मूढत्वं दर्शयामि ते ॥११॥
तदा चांडालरूपेण ताभ्यां द्वाभ्यां प्रपञ्चतः। यमुनोपरि गत्वाशु दुष्टकर्मोत्करस्य च ॥१२॥
प्रक्षालनेन तत्सर्वं जलं संदूषितं महत्। ततो रुष्टेन तेनापि प्रोक्त्वा कष्टमिति स्फुटम् ॥१३॥
नद्याश्चोपरि गत्वाशु तथा स्नानादिकं पुनः। प्रारब्धं मूढभावेन किं न कुर्वन्ति देहिनः ॥१४॥
पुनस्ताभ्यां परीक्षार्थं तज्जलं चातिदूषितम्। ततः सोपि प्रकोपेन दूरं गत्वा तथा स्थितः ॥१५॥
एवं ताभ्यां बहून्वारांस्तज्जले दूषिते तराम्। स्नानजापादिकं त्यक्त्वा मोहं प्राप्तः स मूढधीः ॥१६॥
ततस्ताभ्यां वनक्रीडाप्रासादादोलनादिकम्। विद्यया दर्शितं तस्य नभोयानादिकं तथा ॥१७॥
तद्दृष्ट्वा सुप्रतिष्ठोसौ विष्णुभक्तः सुविस्मयात्। अहो विद्याधराणां च देवानामपि नेदृशी ॥१८॥
विद्या संविद्यते यादृक्चाण्डालानां मनोहरा। एषा चेद्वर्तते मे च विद्या सर्वप्रवञ्चनम् ॥१९॥
करोमीति हृदि ध्यात्वा समागत्य तदन्तिकम्। संजगादेति भो ब्रूत यूयं कस्मात्समागताः ॥२०॥
महाश्चर्यं प्रकुर्वन्ति भवन्तः कथमीदृशम्। आनन्दो वर्तते मेऽत्र भवत्क्रीडासमीक्षणात् ॥२१॥
तच्छ्रुत्वा सोपि मातंगो जगौ भो विष्णुभाक्तिक। नैवं जानासि किं चात्र मातंगोहमिति स्फुटम् ॥२२॥
नमस्कर्तुं समायातो गुरोः पादद्वयं मुदा। तुष्टेन गुरुणा मह्यं दत्ता विद्या सुखप्रदा ॥२३॥
तस्याः प्रभावतः सर्वं मयेदं क्रियते ध्रुवम्। तत्समाकर्ण्य तेनोक्तं तदा भागवतेन च ॥२४॥

वेष बना ऊपर किनारे की ओर गए और मेरे ढोरो का चमड़ा नदी में धोने लगे। अपने इस निन्द्यकर्म द्वारा इन्होंने जल को अपवित्र कर दिया। उस साधु को यह बहुत बुरा लगा। सो वह इन्हें कुछ कह सुनकर ऊपर की ओर चला गया। वहाँ उसने फिर नहाया धोया। सच है—मूर्खता के वश लोग कौन काम नहीं करते। साधु की यह मूर्खता देखकर ये भी फिर आगे जाकर चमड़ा धोने लगे। इनकी बार-बार यह शैतानी देखकर साधु को बड़ा गुस्सा आया। तब वह और आगे चला गया। इसके पीछे हो ये दोनों भी जाकर फिर अपना काम करने लगे। गर्ज यह कि इन्होंने उस साधु को बहुत ही कष्ट दिया। तब हार खाकर बेचारे को अपना जप-तप, नाम-ध्यान ही छोड़ देना पड़ा। इसके बाद उस साधु को इन्होंने अपनी विद्या के बल से वन में एक बड़ा भारी महल खड़ा कर देना, झूला बनाकर उस पर झूलना आदि अनेक अचम्भे डालने वाली बातें बतलाई उन्हें देखकर सुप्रतिष्ठ साधु बड़ा चकित हुआ। वह मन में सोचने लगा कि जैसी विद्या इन चाण्डालों के पास है ऐसी तो अच्छे-अच्छे विद्याधरों या देवों के पास भी न होगी। यदि यही विद्या मेरे पास भी होती तो मैं भी इनकी तरह बड़ी मौज मारता। अस्तु, देखें, इनके पास जाकर मैं कहूँ कि ये अपनी विद्या मुझे भी दे दें। इसके बाद वह उनके पास आया और उनसे बोला—आप लोग कहाँ से आ रहे हैं? आपके पास तो लोगों को चकित करने वाली बड़ी-बड़ी करामातें हैं। आपका यह विनोद देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उत्तर में विद्युत्प्रभ विद्याधर ने कहा—योगी जी, आप मुझे नहीं जानते कि मैं चाण्डाल हूँ। मैं तो अपने गुरु महाराज के दर्शन के लिए यहाँ आया हुआ था। गुरुजी ने खुश होकर मुझे जो विद्या दी है, उसी के प्रभाव से यह सब कुछ मैं करता हूँ। अब तो साधुजी के मुँह में भी विद्यालाभ के लिए पानी आ

अहो कृपां विधायोच्चैर्महामेषा प्रदीयते। विद्या यया करोम्यत्र सद्विनोदमहं पुनः ॥२५॥
 स चाण्डालस्तदा प्राह त्वमुत्तमकुलोद्भवः। वेदवेदाङ्गपारज्ञो न विद्या विनयैर्विना ॥२६॥
 विद्युद्वेगस्त्वकं चापि यत्र मां पश्यसि स्फुटम्। तत्राष्टाङ्गनमस्कारं कृत्वा सदभक्तिनिर्भरः ॥२७॥
 भवत्पादप्रसादेन जीवामीति प्रजल्पसि। तदा विद्याप्रसिद्धिस्ते न चेत्सिद्ध्यापि याति सा ॥२८॥
 सर्वं करोमि तेनोक्तं यद्भवद्भिः प्रजल्पितम्। ततस्तस्मै निजां विद्यां दत्त्वासौ स्वगृहं गतः ॥२९॥
 सोपि विद्याप्रभावेन कृत्वा चारुविकुर्वणाम्। सिद्धा विद्येति संज्ञात्वा सुप्रतिष्ठाख्यो विष्णुभाक् ॥३०॥
 तद्वेलातिक्रमे प्राप्तो भोजनार्थं नृपान्तिकम्। राज्ञा पृष्टः कथं वेलातिक्रमो भगवन्नभूत् ॥३१॥
 प्रोक्तं तेन मृषा वाक्यं लम्पटेन कुवादिना। भो नरेन्द्र चिरं चारुतपोमाहात्म्यतोद्य मे ॥३२॥
 सर्वे हरिहरब्रह्मा-सुराद्या भक्तिनिर्भराः। मां समभ्यर्च्य योगीन्द्रं स्वस्थानं संययुर्मुदा ॥३३॥
 तेन राजन्बृहद्वेला संजातेति तथापरम्। अभूत्प्रभो नभोभागे गमनागमनं च मे ॥३४॥
 ततः श्रीधनसेनोसौ भूपतिः प्राह भो द्विज। त्वं प्रभाते महाश्चर्यं सर्वं मे दर्शय ध्रुवम् ॥३५॥
 दर्शयिष्यामि चेत्युक्त्वा स कृत्वा भोजनं गतः। प्रभाते मठिकायां च राजादीनां मनोहरम् ॥३६॥

गया। उन्होंने तब उस चाण्डाल रूपधारी विद्याधर से कहा—तो क्या कृपा करके आप मुझे भी यह विद्या दे सकते हैं, जिससे कि मैं भी फिर आपकी तरह खुशी मनाया करूँ। उत्तर में विद्याधर ने कहा—भाई, विद्या के देने में तो मुझे कोई हर्ज मालूम नहीं होता, पर बात यह है कि मैं ठहरा चाण्डाल और आप वेद-वेदांग के पढ़े हुए एक उत्तम कुल के मनुष्य, तब आपका मेरा गुरु-शिष्य भाव नहीं बना सकता और ऐसी हालत में आपसे मेरा विनय भी न हो सकेगा और बिना विनय के विद्या आ नहीं सकती। हाँ यदि आप यह स्वीकार करें कि जहाँ मुझे देख पावें वहाँ मेरे पाँवों में पड़कर बड़ी भक्ति के साथ यह कहें कि प्रभो, आप ही की चरणकृपा से मैं जीता हूँ तब तो मैं आपको विद्या दे सकता हूँ और तभी विद्या सिद्ध हो सकती है। बिना ऐसा किए सिद्ध हुई विद्या भी नष्ट हो जाती है। उसने यह सब बातें स्वीकार कर लीं। तब विद्युत्प्रभ विद्याधर इसे विद्या देकर अपने घर चला गया ॥७-२९॥

इधर सुप्रतिष्ठ साधु को जैसे ही विद्या सिद्ध हुई, उसने उन सब लीलाओं को करना शुरू किया जिन्हें कि विद्याधर ने किया था। सब बातें वैसी ही हुई देखकर सुप्रतिष्ठ बड़ा खुश हुआ। उसे विश्वास हो गया कि अब मुझे विद्या सिद्ध हो गई। इसके बाद वह भोजन के लिए राजमहल आया। उसे देर से आया हुआ देखकर राजा ने पूछा—भगवन् आज आपको बड़ी देर लगी? मैं बड़ी देर से आपका रास्ता देख रहा हूँ। उत्तर में सुप्रतिष्ठ ने मायाचारी से झूठ-मूठ ही कह दिया कि राजन्, आज मेरी तपस्या के प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सब देव आए थे। ये बड़ी भक्ति से मेरी पूजा करके अभी गए हैं। यही कारण मुझे देरी लगी और राजन् एक बात नई यह हुई कि मैं अब आकाश में ही चलने-फिरने लग गया। सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही मैं यह सब कौतुक देखने की उसकी मंशा हुई। उसने तब सुप्रतिष्ठ से कहा—अच्छ तो महाराज, अब आप आइए और भोजन कीजिए क्योंकि बहुत देर हो चुकी है। आप वह सब कौतुक मुझे बतलाइएगा। सुप्रतिष्ठ 'अच्छी बात

दर्शयत्येव ब्रह्मादिरूपं यावत्कृतोद्यमः। तावच्चण्डालरूपेण तत्रायातौ च तौ पुनः ॥३७॥
तदा दृष्ट्वा वदत्सोपि मातंगौ दुष्टचेष्टितौ। कस्मादिमौ समायातौ नष्टा विद्येति जल्पनात् ॥३८॥
किं कारणं नृपः प्राह भगवन्ब्रूहि मे स्फुटम्। प्रोक्तं तेन यथार्थं च श्रुत्वा सोपि महीपतिः ॥३९॥
तौ प्रणम्य लसद्भक्त्या चण्डालौ पूर्वयुक्तितः। ततो विद्यां समादाय तां परीक्ष्य प्रहर्षतः ॥४०॥
सम्प्राप्तः स्वगृहं शीघ्रं विद्यालाभो हि शर्मदः। येन जन्तुर्भवत्येव नित्यं सत्सौख्यभाजनम् ॥४१॥
अन्यदा स्वसभामध्ये विष्टरस्थो महीपतिः। तं चाण्डालं समायातं दृष्ट्वा भक्तिनिर्भरः ॥४२॥
सम्प्रणम्य जगादोच्चैर्भौ स्वामिंस्त्वत्प्रसादतः। जीवामीति ततः सोपि विद्युत्प्रभखगाधिपः ॥४३॥
विलोक्य विनयं तस्य सुधीः संतुष्टमानसः। स्वरूपं प्रकटीकृत्य तस्मै भूपाय शर्मदाम् ॥४४॥
दत्त्वा विद्यां तथान्यां च सम्प्राप्तो निजमन्दिरम्। गुरुणां विनयेनोच्चैः किं न जायेत सुन्दरम् ॥४५॥

है' कहकर भोजन के लिए चला आया ॥३०-३६॥

दूसरे दिन सबेरा होते ही राजा और उसके अमीर-उमराव वगैरह सभी सुप्रतिष्ठ साधु के मठ में उपस्थित हुए। दर्शकों का भी ठाठ लग गया। सबकी आँखें और मन साधु की ओर जा लगे कि वह अपना नया चमत्कार बतलावें। सुप्रतिष्ठ साधु भी अपनी करामात बतलाने को आरंभ करने वाला ही था कि इतने में वह विद्युत्प्रभ विद्याधर और उसकी स्त्री उसी चाण्डाल वेष में वहीं आ धमके। सुप्रतिष्ठ के देवता उन्हें देखते ही कूँच कर गए। ऐसे समय उनके आ जाने से इसे उन पर बड़ी घृणा हुई उसने मन ही मन घृणा के साथ कहा-ये दुष्ट इस समय क्यों चले आये। उसका यह कहना था कि उसकी विद्या नष्ट हो गई। वह राजा वगैरह को अब कुछ भी चमत्कार न बतला सका और बड़ा शर्मिन्दा हुआ। तब राजा ने “ऐसा एक साथ क्यों हुआ”, इसका सब कारण सुप्रतिष्ठ से पूछा। झक मारकर फिर उसे सब बातें राजा से कह देनी पड़ीं ॥३७-३९॥

सुनकर राजा ने उन चाण्डालों को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया। राजा की यह भक्ति देखकर उन्होंने वह विद्या राजा को दे दी। राजा उसकी परीक्षा कर बड़ी प्रसन्नता से अपने महल लौट गया। सो ठीक ही है विद्या का लाभ सभी की सुख देने वाला होता है ॥४०-४१॥

राजा की भी परीक्षा का समय आया। विद्या प्राप्ति के कुछ दिनों बाद एक दिन राजा राज-दरबार में सिंहासन पर बैठा हुआ था। राजसभा सब अमीरों-उमरावों से ठसा-ठस भरी हुई थी। इसी समय राजगुरु चाण्डाल वहाँ आया, जिसने कि राजा को विद्या दी थी। राजा उसे देखते ही बड़ी भक्ति से सिंहासन पर से उठा और उसके सत्कार के लिए कुछ आगे बढ़कर उसने उसे नमस्कार किया और कहा-प्रभो, आप ही के चरणों की कृपा से मैं जीता हूँ। राजा की ऐसी भक्ति और विनयशीलता देखकर विद्युत्प्रभ बड़ा खुश हुआ। उसने तब अपना खास रूप प्रकट किया और राजा को और भी कई विद्याएँ देकर वह अपने घर चला गया। सच है, गुरुओं के विनय से लोगों को सभी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इस आश्चर्य को देखकर धनसेन, विद्युद्देगा तथा और भी बहुत

तदाश्चर्यं समालोक्य स राजा धनसेनवाक् । विद्युद्वेगा तथान्ये च संजाताः श्रावकोत्तमाः ॥४६॥
 अन्यैश्चापि महाभव्यैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदः । गुरुणां विनयः कार्यो विशुद्धपरिणामतः ॥४७॥
 सर्वकार्यप्रसिद्धिं च या करोति क्षणाद्धतः । अस्तु सा सद्गुरोर्भक्तिः क्रियासन्दोहभूषणम् ॥४८॥
 वन्द्यते स गुरुनित्यं यः संसारमहार्णवम् । स्वयं तरति पूतात्मा भव्यानां तारणक्षमः ॥४९॥

यस्य श्रीजिनपादपद्मयुगले देवेन्द्रचन्द्रार्चिते
 शास्त्रे सद्विनयस्तथा मुनिजने जैने सदा तिष्ठति ।
 तस्य श्रीजयकीर्तिकान्तविलसद्बोधादयः सद्गुणाः
 प्रीत्यां पार्श्वनिवासिनोतिनितरां तिष्ठन्ति शर्मप्रदाः ॥५०॥

इति कथाकोशे विनयाख्यानं समाप्तम् ।

९०. अवग्रहाख्यानम्

पादपद्मद्वयं नत्वा जिनेन्द्रस्य शुभप्रदम् । उपधानकथा वक्ष्ये यतः सौख्यं भजाम्यहम् ॥१॥
 अहिच्छत्रपुरे राजा वसुपालो विचक्षणः । श्रीमज्जैनमते भक्तो वसुमत्याभिधा प्रिया ॥२॥

से लोगों ने श्रावक-व्रत स्वीकार किए। विनय का इस प्रकार फल देखकर अन्य भव्यजनों को भी उचित है कि वे गुरुओं का विनय, भक्ति निर्मल भावों से करें ॥४२-४७॥

जो गुरुभक्ति क्षण मात्र में कठिन से कठिन काम को पूरा कर देती है वही भक्ति मेरी सब क्रियाओं की भूषण बने। मैं उन गुरुओं को नमस्कार करता हूँ कि जो संसार-समुद्र से स्वयं तैरकर पार होते हैं और साथ ही और भव्यजनों को पार करते हैं ॥४८-४९॥

जिनके चरणों की पूजा देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े महापुरुष करते हैं उन जिन भगवान् का, उनके रचे पवित्र शास्त्रों का और उनके बताये मार्ग पर चलने वाले मुनिराजों का जो हृदय से विनय करते हैं, उनकी भक्ति करते हैं उनके पास कीर्ति, सुन्दरता, उदारता, सुख-सम्पत्ति और ज्ञान-आदि पवित्र गुण अत्यन्त पड़ोसी होकर रहते हैं अर्थात् विनय के फल से उन्हें सब गुण होते हैं ॥५०॥

९०. अवग्रह-नियम लेने वाले की कथा

पुण्य के कारण जिन भगवान् के चरणों को नमस्कार कर उपधान अवग्रह की अर्थात् वह काम जब तक न होगा तब तक मैं ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ, इस प्रकार का नियम कर जिसने फल प्राप्त किया, उसकी कथा लिखी जाती है, जो सुख को देने वाली है ॥१॥

अहिच्छत्रपुर के राजा वसुपाल बड़े बुद्धिमान् थे। जैनधर्म पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। उनकी रानी का नाम वसुमती था। वसुमती भी अपने स्वामी के अनुरूप बुद्धिमती और धर्म पर प्रेम करने वाली थी। वसुपाल ने एक बड़ा ही विशाल और सुन्दर 'सहस्रकूट' नाम का जिनमन्दिर बनवाया।